॥ॐ॥

॥श्री परमात्मने नमः ॥

॥श्री गणेशाय नमः॥

योगतत्त्व उपनिषद

विषय सूची

॥अथ योगतत्त्वोपनिषत्॥ 3

योगतत्त्व उपनिषद 4

शान्तिपाठ 43

॥ श्री हरि ॥

॥अथ योगतत्त्वोपनिषत्॥

॥ हरिः ॐ ॥

योगैश्वर्यं च कैवल्यं जायते यत्प्रसादतः ।
तद्वैष्णवं योगतत्त्वं रामचन्द्रपदं भजे ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९॥

परमात्मा हम दोनों गुरु शिष्यों का साथ साथ पालन करे। हमारी रक्षा करें। हम साथ साथ अपने विद्याबल का वर्धन करें। हमारा अध्यान किया हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ योगतत्त्वोपनिषत् ॥

योगतत्त्व उपनिषद

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया ।
यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १॥

योगियों की हित-कामना की दृष्टि से मैं योगतत्त्व का वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवण-अध्ययन तथा आचरण में धारण करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं॥१॥

विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ॥ २॥

विष्णु नामक महायोगी ही समस्त (भूत) प्राणियों के आदि महाभूत एवं महातपस्वी हैं। वे पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग में दीपक के सदृश प्रकाशमान हैं॥२॥

तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः ।
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम् ॥ ३॥

पितामह ब्रह्माजी ने उन जगत् के स्वामी (भगवान् विष्णु) की आराधना एवं प्रणाम करके, कहा- हे जगन्नाथ ! आप अष्टाङ्ग युक्त योग का उपदेश मुझे प्रदान करें॥३॥

तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।
सर्वे जीवाः सुखैर्दुखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ॥ ४॥

यह सुनकर उन भगवान् हृषीकेश ने कहा कि मैं उस तत्त्व का वर्णन करता हूँ, तुम ध्यानयुक्त हो कर श्रवण करो। ये सभी जीव सुख-दुःख के माया रूपी जाल में आबद्ध हैं॥४॥

तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं मृत्युतारकम् ॥ ५॥

इस सुख-दुःख रूप माया के जाल को काटकर उन (समस्त जीवों) को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला तथा जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से छुटकारा दिलाने वाला यही मृत्युतारक मार्ग है॥५॥

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥ ६॥

कैवल्य रूपी परम पद, अन्य दूसरे मार्गों का आश्रय लेने से कठिनता से प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के मतों में पड़कर ज्ञानी जनों की बुद्धि मोह-ग्रस्त हो जाती है॥६॥

अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाशते ॥ ७॥

उस अनिर्वचनीय पद का उल्लेख देवगण भी नहीं कर सकते, तब उस स्वप्रकाशित आत्मा के रूप का वर्णन शास्त्रों में कैसे किया जा सकता है?॥७॥

निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ।
तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ॥ ८॥

वह निष्कल (कलारहित), मल रहित, शान्त, सर्वातीत (सबसे परे), निरामय (रोगरहित) तत्त्व जीव रूप में पुण्य और पाप के फलों से पूर्ण हो जाता है॥८॥

परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ।
सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥ ९॥

(यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब वह परमात्मा सभी भाव और पद से परे, नित्य, ज्ञानरूप एवं मायारहित है, तब वह जीव भाव को कैसे प्राप्त हो जाता है॥९॥

वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता ।
पञ्चात्मकमभूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥ १०॥

उस परमात्म तत्त्व में जल के सदृश स्फुरण हुआ और उसमें अहंकार की उत्पत्ति हुई। तब पञ्च महाभूत रूप, धातु से आबद्ध, गुणात्मक पिण्ड उत्पन्न हुआ॥१०॥

सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु ।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धैः परमात्मनि ॥ ११॥

उस विशुद्ध परमात्मा ने सुख-दुःख से युक्त होकर जीव-भावना की, इससे उसे जीव नाम दिया गया॥११॥

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः ।
जन्ममृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥ १२॥

तृष्णा लज्जा भयं दुह्खं विषादो हर्ष एव च ।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः ॥ १३॥

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म-मृत्यु, कार्पण्य(कंजूसी), शोक, तन्द्रा, क्षुधा, तृष्णा, लज्जा, भय, दुःख, विषाद, हर्ष आदि समस्त दोषों से मुक्ति मिल जाने पर जीव को 'केवल' (विशुद्ध) माना गया है॥१२-१३॥

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥ १४॥

योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥ १५॥

अब उन दोषों को दूर करने का उपाय कहता हूँ। योग-विहीन ज्ञान मोक्ष देने वाला कैसे हो सकता है? ज्ञानरहित योग से भी मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। इस कारण मोक्ष के अभिलाषी को ज्ञान और योग दोनों का ही दृढ़ अभ्यास करना चाहिए॥१४-१५॥

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ॥ १६॥

अज्ञान से ही यह संसार बन्धन स्वरूप है तथा ज्ञान के द्वारा ही इस संसार से निवृत्ति हो सकती है। ज्ञान स्वरूप ही आदि में है और ज्ञान के माध्यम से ही ज्ञेय को प्राप्त किया जा सकता है॥१६॥

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम् ।
निष्कलं निर्मलं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपकम् ॥ १७॥

उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते ॥ १८॥

जिसके द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान हो और कैवल्यपद, परमपद, निष्कल (कलारहित), निर्मल, सच्चिदानन्द स्वरूप, उत्पत्ति, स्थिति, संहार एवं स्फुरण का ज्ञान हो, वही वास्तविक ज्ञान है। अब इसके आगे योग के सन्दर्भ में वर्णन करते हैं॥१७-१८॥

योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥ १९॥

हे ब्रह्मन्! व्यवहार की दृष्टि से योग के अनेकानेक भेद बताये गये हैं, जैसे- मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग आदि॥१९॥

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः ।
निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता ॥ २०॥

योग की चार अवस्थायें सर्वत्र वर्णित की गई हैं। ये अवस्थायें- आरम्भ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति हैं॥२०॥

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्वक्ष्ये शृणु समासतः ।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥ २१॥

क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥ २२॥

इन (चारों अवस्थाओं) के लक्षण संक्षेप में वर्णित किये जाते हैं- (मन्त्रयोग) जो मातृका आदि से युक्त मन्त्र को बारह वर्ष जप करता है, वह क्रमशः अणिमा आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; परन्तु इस तरह का योग अल्प बुद्धि वाले लोग करते हैं तथा वे अधम कोटि के साधक होते हैं॥२१-२२॥

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः ।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥ २३॥

चित्त का लय ही लययोग है, वह करोड़ों तरह का कहा गया है, चलते, बैठते, रुकते, शयन करते, भोजन करते, कलारहित परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता रहे॥२३॥

स एव लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु ।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः ॥ २४॥

प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम् ।
समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥ २५॥

इस प्रकार वह तो लययोग हुआ। अब हठयोग का श्रवण करो- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भृकुटी के मध्य में श्रीहरि

का ध्यान तथा समाधि-साम्यावस्था को अष्टांग योग कहते हैं॥२४-२५॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरोड्डियाणश्च मूलबन्धैस्तथैव च ॥ २६॥

दीर्घप्रणवसन्धानं सिद्धान्तश्रवणं परम् ।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता ॥ २७॥

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध और खेचरी मुद्रा, जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध, दीर्घ प्रणव संधान, परम सिद्धान्त को सुनना तथा वज्रोली, अमरोली एवं सहजोली ये तीन मुद्रायें हैं॥२६-२७॥

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः ।
लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्या भवति नेतरः ॥ २८॥

अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन ।
सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥ २९॥

हे ब्रह्मन्! अब आप इनमें से प्रत्येक के लक्षणों को सुनें । यमों में एक मात्र सूक्ष्म आहार ही प्रमुख है। तथा नियमों के अन्तर्गत अहिंसा प्रधान है। सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र ये चार मुख्य आसन हैं॥२८-२९॥

प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुरानन ।
आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्टी मन्त्रादिसाधनम् ॥ ३०॥

हे चतुरानन ! सर्वप्रथम अभ्यास के प्रारम्भिक काल में ही विघ्न उपस्थित होते हैं, जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें करना तथा मन्त्रादिक का साधन॥३०॥

धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै ।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान्विघ्नान्पुण्यप्रभावतः ॥ ३१॥

श्रेष्ठ, बुद्धिमान् साधक को धातु (रुपया आदि धन), स्त्री, लौल्यता (चंचलता) आदि को मृगतृष्णारूप समझकर तथा विघ्नरूप जानकर त्याग देना चाहिए॥३१॥

प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम् ।
सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम् ॥ ३२॥

तदनन्तर उस श्रेष्ठ साधक को पद्मासन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले एक छोटी-सी पर्णकुटी छोटे द्वार से युक्त तथा बिना छिद्र वाली विनिर्मित करे॥३२॥

सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः ।
मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितं च प्रयत्नतः ॥ ३३॥

तत्पश्चात् उस कुटी को गाय के गोबर से लीपकर शोभनीय बनाये तथा ठीक तरह से स्वच्छ करे और प्रयत्नपूर्वक खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जीवों से रहित करे॥३३॥

दिने दिने च संमृष्टं संमार्जन्या विशेषतः ।
वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः ॥ ३४॥

प्रतिदिन उस (कुटिया) को झाड़-बुहार करके स्वच्छ करता रहे एवं साथ ही उसे धूप, गूगल आदि की धूनी देकर सुवासित भी करता रहे॥३४॥

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ॥ ३५॥

जो न तो बहुत अधिक ऊँचा तथा न ही अतिनीचा हो, ऐसे वस्त्र, मृगचर्म या कुश के आसन पर बैठकर पद्मासन लगाना चाहिए॥३५॥

ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ।
ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ॥ ३६॥

निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः ।
यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ॥ ३७॥

शरीर को सीधा रखकर, हाथ जोड़ते हुए इष्ट देवता को प्रणाम करे, तत्पश्चात् दाँयें हाथ के अँगूठे से पिंगला को दबाकर शनैः-शनैः वायु को भीतर की ओर खींचे तथा उसे यथा शक्ति रोककर कुम्भक करे॥३६-३७॥

पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिङ्गलयापूर्य पूरयेदुदरं शनैः ॥ ३८॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः ।
यया त्यजेत्तयापूर्य धारयेदविरोधतः ॥ ३९॥

तत्पश्चात् पिंगला द्वारा उस वायु को सामान्य गति से बाहर निकाल देना चाहिए। इसके बाद पिंगला से वायु को पेट में पुनः भर कर, शक्ति के अनुसार ग्रहण करके रेचक करे। इस प्रकार जिस तरफ के नथुने से वायु बाहर निकाले, उसी तरफ से पुनः भरकर दूसरे नथुने से बाहर निकालता रहे॥३८-३९॥

जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ॥ ४०॥

न तो अत्यन्त द्रुतगति से और न ही अत्यन्त धीमी गति से, वरन् सहज-सामान्य गति से जानु की प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजाए, इतने समय को एक मात्रा कहा जाता है॥४०॥

इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया ।
कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥ ४१॥

रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
पुनः पिङ्गलयापूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥ ४२॥

सर्वप्रथम 'इड़ा' में सोलह मात्रा तक वायु को खींचे, तत्पश्चात् चौंसठ मात्रा तक कुम्भक करे और तब इसके बाद बत्तीस मात्रा तक 'पिंगला' नाड़ी से रेचक करे। इसके बाद दूसरी बार 'पिंगला' से वायु खींचकर पहले की भाँति ही सारी क्रिया सम्पन्न करे॥४१-४२॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ४३॥

प्रातः, मध्याह, सायंकाल एवं अर्द्धरात्रि के समय चार बार धीरे-धीरे क्रमशः अस्सी कुम्भक तक का अभ्यास बढ़ाना चाहिए॥४३॥

एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् ।
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः ॥ ४४॥

इस तरह से तीन मास तक अभ्यास करने से नाड़ी-शोधन हो जाता है। ऐसी शुद्धि होने से उस (श्रेष्ठ साधक) के चिह्न भी योगी की देह में दृष्टिगोचर होने लगते हैं॥४४॥

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः ।
शरीरलघुता दीप्तिर्जाठराग्निविवर्धनम् ॥ ४५॥

कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम् ।
योगाविघ्नकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः ॥ ४६॥

वे चिह्न ऐसे हैं कि शरीर में हल्कापन मालूम पड़ता है, जठराग्नि तीव्र हो जाती है,शरीर भी निश्चित रूप से कृश हो जाता है। ऐसे समय में योग में बाधा पहुँचाने वाले आहार का परित्याग कर देना चाहिए॥४५- ४६॥

लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम् ।
शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथसेवनम् ॥ ४७॥

प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत् ।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥ ४८॥

नमक, तेल, खटाई, गर्म, रूखा, तीक्ष्ण भोजन, हरे साग, हींग आदि मसाले, आग से तापना, स्त्री प्रसंग, अधिक चलना, प्रातः काल का स्नान, उपवास तथा अपने शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले अन्य कार्यों को प्रायः त्याग ही देना चाहिए। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में दुग्ध, घृत का भोजन ही सर्वश्रेष्ठ है॥४७-४८॥

गोधूममुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः ।
ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे ॥ ४९॥

गेहूँ, मूंग एवं चावल का भोजन योग में वृद्धि प्रदान करने वाला बतलाया गया है। इस प्रकार अभ्यास करने से वायु को इच्छानुसार धारण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है॥४९॥

यथेष्टवायुधारणाद्वायोः सिद्ध्येत्केवलकुम्भकः ।
केवले कुम्भक सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ॥ ५० ॥

यथेष्ट वायु धारण कर सकने के उपरान्त 'केवल' कुम्भक सिद्ध हो जाता है और तब रेचक और पूरक का परित्याग कर देना चाहिए॥५०॥

न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥ ५१ ॥

फिर उस (श्रेष्ठ) योगी के लिए तीनों लोकों में कभी कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। अभ्यास के समय जो पसीना निकले, उसे अपने शरीर में ही मल लेना चाहिए॥५१॥

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः ।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥ ५२ ॥

इसके अनन्तर वायु की धारणा शक्ति निरन्तर शनैः-शनैः बढ़ती रहने से आसन पर बैठे हुए साधक के शरीर में कम्पन होने लगता है॥५२॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद्दार्दुरी स्वेन जायते ।
यथा च दर्दुरो भाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति ॥ ५३ ॥

पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ।
ततोऽधिकतरभ्यासाद्भूमित्यागश्च जायते ॥ ५४॥

इससे आगे और अधिक अभ्यास होने पर मेढ़क की तरह चेष्टा होने लगती है। जिस तरह से मेढक उछलकर, फिर जमीन पर आ जाता है, उसी तरह की स्थिति पद्मासन पर बैठे योगी की हो जाती है। जब अभ्यास इससे भी अधिक बढ़ता है, तो फिर वह योगी जमीन से ऊपर उठने लगता है॥५३-५४॥

पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य वर्तते ।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत् ॥ ५५॥

पद्मासन पर बैठा हुआ योगी अत्यन्त अभ्यास के कारण भूमि से ऊपर ही उठा रहता है। वह इस तरह से और भी अतिमानुषी चेष्टाएँ निरन्तर करने लगता है॥५५॥

न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम् ।
स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते तदा ॥ ५६॥

(परन्तु) योगी को इस प्रकार की शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, वरन् स्वयं ही देखकर अपना उत्साहवर्द्धन करना चाहिए। तब थोड़ा या बहुत कष्ट भी योगी को पीड़ा नहीं पहुँचा सकता॥५६॥

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धितानने ॥ ५७॥

एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्बलमुत्पद्यते बहु ॥ ५८॥

योगी का मल-मूत्र अति न्यून हो जाता है तथा निद्रा भी घट जाती है। कीचड़, नाक, थूक, पसीना, मुख की दुर्गन्ध आदि योगी को नहीं होती तथा निरन्तर अभ्यास बढ़ाने से उसे बहुत बड़ी शक्ति मिल जाती है॥५७-५८॥

येन भूचर सिद्धिः स्याद्भूचराणां जये क्षमः ।
व्याघ्रो वा शरभो व्यापि गजो गवय एव वा ॥ ५९॥

सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः ।
कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः ॥ ६०॥

इस प्रकार से योगी को भूचर सिद्धि की प्राप्ति होने से समस्त भू-चरों पर विजय की प्राप्ति हो जाती है। व्याघ्र, शरभ, हाथी, गवय (नीलगाय), सिंह आदि योगी के हाथ मारने मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। उस योगी का स्वरूप भी कामदेव के सदृश सुन्दर हो जाता है॥५९-६०॥

तद्रूपवशगा नार्यः काङ्क्षन्ते तस्य सङ्गमम् ।
यदि सङ्गं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत् ॥ ६१॥

उस योगी के रूप का अवलोकन कर अनेकानेक स्त्रियाँ आकृष्ट होकर उससे भोग की इच्छा करने लगती हैं, लेकिन यदि योगी उनकी इच्छा की पूर्ति करेगा, तो उसका वीर्य नष्ट हो जायेगा॥६१॥

वर्जयित्वा स्त्रियाः सङ्गं कुर्यादभ्यासमादरात् ।
योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥ ६२॥

अतः स्त्रियों का चिन्तन न करके दृढ़ निश्चयी होकर, निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए । वीर्य को धारण करने से योगी के शरीर से सुगन्ध आने लगती है॥६२॥

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥ ६३॥

तदनन्तर एकान्त स्थल पर बैठकर प्लुत मात्रा (तीन मात्रा) से युक्त प्रणव (ॐकार) का जप करते रहना चाहिए, जिससे पूर्व जन्मों के पापों का विनाश हो जाए॥६३॥

सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा ॥ ६४॥

यह ओंकार मंत्र सभी तरह के विघ्न-बाधाओं एवं दोषों का हरण करने वाला है। इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से सिद्धियाँ हस्तगत होने लगती हैं॥६४॥

ततो भवेद्धठावस्था पवनाभ्यासतत्परा ।
प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ६५॥

अन्योन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा ।
घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम् ॥ ६६॥

इसके पश्चात् वायु-धारण का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया से घटावस्था की प्राप्ति सहज रूप से होने लगती है। जिस अभ्यास में प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव तथा परमात्मा में जो पारस्परिक निर्विरोध एकता स्थापित होती है, उसे घटावस्था कहा गया है। उसके चिह्नों का वर्णन आगे के श्लोकों में करते हैं॥६५-६६॥

पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत् ।
दिवा वा यदि वा सायं याममात्रं समभ्यसेत् ॥ ६७॥

एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम् ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥ ६८॥

योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते ।
यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ६९॥

पूर्व में जितना अभ्यास योगी करता था, उसका चतुर्थ भाग ही अब करे। दिन अथवा रात्रि में मात्र एक प्रहर ही अभ्यास करना चाहिए। दिन में एक बार ही 'केवल-कुम्भक' करे एवं कुम्भक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाये, यही प्रत्याहार होता है। उस समय आँखों से जो कुछ भी देखे, उसे आत्मवत् समझे॥६७-६९॥

यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ।
लभते नासया यद्यत्तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७०॥

जो भी कुछ कर्णेन्द्रिय से, श्रवण करे तथा जो कुछ भी नासिका के द्वारा सूँघे, उस सभी को आत्मभावना से ही स्वीकार करे॥७०॥

जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत् ।
त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७१॥

जिह्वा के माध्यम से जो भी कुछ रस ग्रहण करे, उसको भी आत्मरूप जाने। त्वचा से जो कुछ भी स्पर्श हो, उसमें भी अपनी आत्मा की ही भावना करे॥७१॥

एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तत्सौख्यं सुसाधयेत् ।
याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥ ७२॥

इसी तरह से ज्ञानेन्द्रियों के जितने भी विषय हैं, उन सबको योगी अपनी अन्तरात्मा में धारण करे तथा प्रतिदिन एक प्रहर तक इस (क्रिया) का आलस्य त्यागकर प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करे॥७२॥

यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्दूरगमस्तथा ॥ ७३॥

वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा ।
मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥ ७४॥

खे गतिस्तस्य जायेत सन्तताभ्यासयोगतः ।
सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥ ७५॥

इस प्रकार के अभ्यास द्वारा जैसे-जैसे योगी की चित्त-शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे ही उसको दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, क्षण भर में सुदूर क्षेत्र से आ जाना, वाणी की सिद्धि, जब चाहे जैसा रूप ग्रहण कर लेना, अदृश्य हो जाना, उसके मल-मूत्र के स्पर्श से लोहे का स्वर्ण में परिवर्तन हो जाना, आकाश मार्ग से गमन कर सकना आदि सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। बुद्धिमान् श्रेष्ठ योगी सदैव योग की सिद्धि की ओर ही ध्यान बनाये रखे॥७३-७५॥

एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान् ।
न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्यकस्यापि योगिराट् ॥ ७६॥

(परन्तु) ये सभी सिद्धियाँ योग-सिद्धि के लिए विघ्नरूप हैं, बुद्धिमान् योगी साधक को इन (सिद्धियों) से बचना चाहिए। अपनी इस तरह की सामर्थ्य को कभी भी किसी के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए॥७६॥

यथा मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव वा ।
तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ॥ ७७॥

इसलिए श्रेष्ठ योगी को जन सामान्य के समक्ष अज्ञानी, मूर्ख एवं बधिर की भाँति बनकर रहना चाहिए। अपनी सामर्थ्य को सभी तरह से छिपाकर गुप्त रीति से रहना चाहिए॥७७॥

शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः ।
तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासेऽविस्मृतो भवेत् ॥ ७८॥

शिष्य-समुदाय अपने-अपने कार्यों के लिए योगी साधक से निश्चित ही प्रार्थना करेंगे; किन्तु योगी को उन (शिष्यगणों) के काम में पड़कर अपने कर्तव्य (अभ्यास) को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए॥७८॥

अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम् ।
एवं भवेद्धठावस्था सन्तताभ्यासयोगतः ॥ ७९॥

उस योगी को चाहिए कि गुरु के वाक्यों को याद करके सभी तरह के क्रिया-कलापों को छोड़कर योग के अभ्यास में लगा रहे॥७९॥

अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिद्ध्यति ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत् ॥ ८०॥

इस प्रकार लगातार योग के अभ्यास से उसे घटावस्था की प्राप्ति हो जाती है; परन्तु इस तरह की सिद्धि अभ्यास के द्वारा ही मिल सकती है, केवल बातों से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता॥८०॥

ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः ।
वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ॥ ८१॥

भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ।
वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम् ॥ ८२॥

अत: योगी को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक योग का अभ्यास करते रहना चाहिए। तदनन्तर अभ्यास योग से 'परिचय अवस्था' का शुभारम्भ होता है। उस (अवस्था) के लिए प्रयत्नपूर्वक वायु से प्रदीप्त अग्नि सहित कुण्डलिनी को साधना के द्वारा जाग्रत् करके भावनापूर्वक सुषुम्ना में अवरोध रहित प्रवेश कराना चाहिए॥८१-८२॥

यस्य चित्तं स्वपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह ।
भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः ॥ ८३॥

येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोद्यते ।
पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ॥ ८४॥

तत्पश्चात् वायु के सहित चित्त को महापथ में अग्रसर करना चाहिए। जिस योगी का चित्त वायु के सहित 'सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, उसे पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश इन पञ्च महाभूत रूपी देवों की पाँच प्रकार की धारणा हो जाती है॥८३-८४॥

पृथिवी चतुरस्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ।
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ॥ ८५॥

ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ।
धारयेत्पञ्चघटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ॥ ८६॥

पैरों से जानु (घुटनों) तक पृथ्वी तत्त्व का स्थान बतलाया गया है। चार कोनों से युक्त यह पृथ्वी, पीत वर्ण, 'ल' कार से युक्त कही गयी है। पृथ्वी तत्त्व में वायु को आरोपित करते हुए 'ल' कार को उसमें संयुक्त करके उस स्थान में स्वर्ण के समान रंग से युक्त चार भुजाओं एवं चतुर्मुख ब्रह्मा जी का ध्यान करना चाहिए॥८५-८६॥

पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ।
आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥ ८७॥

इस तरह से पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करने से योगी पृथ्वी तत्त्व को जीत लेता है। ऐसे योगी की पृथ्वी के संयोग (विकार या आघात) से मृत्यु नहीं होती॥८७॥

आपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वंबीजं परिकीर्तितम् ।
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ॥ ८८॥

स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ॥ ८९॥

धारयेत्पञ्चघटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ॥ ९०॥

घुटनों से गुदास्थान तक जल-तत्त्व का क्षेत्र बतलाया गया है। यह जल-तत्त्व अर्द्ध चन्द्र के रूप में 'वं' बीज वाला होता है। इस जल-तत्त्व में वायु को आरोपित करते हुए 'वं' बीज को समन्वित करके चतुर्भुज, मुकुट धारण किये हुए, पवित्र स्फटिक के सदृश, पीत वस्त्रों से आच्छादित अच्युतदेव श्री नारायण का पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करना चाहिए। इससे सभी पापों से छुटकारा मिल जाता है॥८८-९०॥

आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम् ।
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम् ॥ ९१॥

इसके पश्चात् उस योगी को जल से किसी भी तरह का डर नहीं रहता और न ही जल से उसकी मृत्यु हो सकती है। जलतत्त्व (गुदा भाग) से हृदय क्षेत्र तक अग्नि का स्थान बताया गया है॥९१॥

वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम् ।
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम् ॥ ९२॥

तीन कोणों से युक्त अग्नि, लाल रंग वाला एवं 'र' कार से संयुक्त होता है। अग्नि में वायु को आरोपित करके उस समुज्ज्वल 'र' कार को समन्वित करना चाहिए॥९२॥

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ।
धारयेत्पञ्चघटिका वह्निनासौ न दाह्यते ॥ ९३॥

त्रियक्ष (तीन नेत्रों) से युक्त वर प्रदान करने वाले, तरुण आदित्य के सदृश प्रकाशमान तथा समस्त अङ्गों में भस्म धारण किये हुए भगवान् रुद्र को प्रसन्न मन से सदा ध्यान करना चाहिए॥९३॥

न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निमण्डले ।
आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ॥ ९४॥

पाँच घटी (२ घंटे) तक इस तरह से चिन्तन करने से वह (योगी) अग्नि से नहीं जलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रखर जलती हुई

अग्नि में भी संयोगवश प्रविष्ट कराया जाए, तो भी वह नहीं जलता॥९४॥

वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ।
मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् ॥ ९५॥

हृदय क्षेत्र से भृकुटियों तक का स्थान वायु का क्षेत्र कहा गया है, यह षट्कोण के आकार वाला, कृष्ण वर्ण से युक्त भास्वर 'य' अक्षर वाला होता है॥९५॥

धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ।
धारयेत्पञ्चघटिका वायुवद्व्योमगो भवेत् ॥ ९६॥

मरुत्स्थान पर यकार होता है। यहाँ 'य' अक्षर केसहित विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का सतत चिन्तन करना चाहिए॥९६॥

मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः ।
आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ॥ ९७॥

इस तरह पाँच घटी अर्थात् दो घंटे तक उन विश्वतोमुख भगवान् का ध्यान करने से योगी वायु के सदृश आकाश में गमन करने वाला हो जाता है। उस महान् योगी को वायु से किसी भी तरह का भय नहीं व्याप्त होता तथा वह वायु से मृत्यु को भी नहीं प्राप्त होता॥९७॥

व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम् ।
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शङ्करम् ॥ ९८॥

भृकुटी के मध्य भाग से लेकर मूर्धा के अन्त तक का आकाश तत्त्व का क्षेत्र कहा गया है। यह व्योमवृत्त के आकार वाला, धूम्र वर्ण से युक्त तथा 'ह' कार (अक्षर) से प्रकाशित है॥९८॥

बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं धृतबालेन्दुमौलिनम् ॥ ९९॥

इस आकाश तत्त्व में वायु का आरोपण करके 'ह' कार के ऊपर भगवान् शंकर (का ध्यान करे), जो बिन्दु रूप महादेव हैं। वही व्योमाकार में सदाशिव रूप हैं॥९९॥

पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ।
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम् ॥ १००॥

वे भगवान् शिव परम पवित्र स्फटिक के सदृश निर्मल हैं, बालरूप चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये हुए हैं, पाँच मुखों से युक्त, सौम्य, दश भुजा एवं तीन नेत्रों से युक्त हैं॥१००॥

उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ।
आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्ध्रुवम् ॥ १०१॥

वे भगवान् शिव सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण किये हुए, विभिन्न प्रकार के आभूषणों से विभूषित, पार्वती जी से सुशोभित अर्धाङ्ग वाले, वर प्रदान करने वाले तथा सभी कारणों के भी कारण रूप हैं॥१०१॥

यत्रकुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते ।
एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः ॥ १०२॥

उन भगवान् शिव का ध्यान आकाश तत्त्व में करने से निश्चित ही आकाश मार्ग में गमन की शक्ति मिल जाती है। इस ध्यान से साधक कहीं भी रहे, वह अत्यन्त सुख की प्राप्ति करता है॥१०२॥

ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ।
ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः ॥ १०३॥

इस प्रकार विशेष लक्षणों से संयुक्त योगी को पाँच तरह की धारणा करनी चाहिए। इस धारणा से उस योगी का शरीर अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तथा उसे मृत्यु का भय भी व्याप्त नहीं होता॥१०३॥

समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाषष्टिमेव च ।
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ॥ १०४॥
सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥ १०५॥

ब्रह्म-प्रलय अर्थात् चराचर में जल ही जल की स्थिति होने पर भी वह महामति दुःख को प्राप्त नहीं होता। छः घटी अर्थात् दो घंटे चौबीस मिनट तक वायु को रोककर आकाश तत्त्व में इष्ट सिद्धिदाता-देवों को निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिए। सगुण ध्यान करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा निर्गुण रूप में चिन्तन करने से समाधि की स्थिति प्राप्त होती है॥१०४- १०५॥

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥ १०६॥

योग में निष्णात साधक मात्र बारह दिन में ही समाधि की सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। वह योगी वायु (प्राण) को स्थिर करके (समाधि को सिद्ध करके) अपने जीवन में मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥१०६॥

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥ १०७॥

समाधि में जीवात्मा एवं परमात्मा की समान अवस्था हो जाती है। उसमें यदि अपना शरीर छोड़ने की इच्छा हो, तो उसका परित्याग भी किया जा सकता है॥१०७॥

परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ।
अथ नो चेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि ॥ १०८॥

सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥ १०९॥

इस प्रकार से योगी अपने आपको परब्रह्म में विलीन कर लेता है, उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता; किन्तु यदि उसको शरीर प्रिय लगता है, तो वह स्वयं ही अपने शरीर में स्थित होकर अणिमा आदि समस्त सिद्धियों से युक्त हो सभी लोकों में गमन कर सकता है तथा यदि चाहे तो कभी भी देवता होकर स्वर्ग में निवास कर सकता है॥१०८-१०९॥

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापीक्षणाद्भवेत् ।
सिंहो व्याघ्रो गजो वाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात् ॥ ११०॥

योगी स्वेच्छा से मनुष्य अथवा यक्ष का रूप भी क्षणभर में धारण कर सकता है। वह सिंह, हाथी, घोड़ा आदि अनेक रूपों को स्वेच्छापूर्वक धारण कर सकने में समर्थ होता है॥११०॥

यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः ।
अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥ १११॥

महेश्वर पद के प्राप्त हो जाने पर योगी इच्छानुकूल व्यवहार कर सकता है। यह भेद तो मात्र अभ्यास का ही है, फल की दृष्टि से तो दोनों समान ही हैं॥१११॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ ११२॥

साधक को चाहिए कि बाँयें पैर की एड़ी के द्वारा योनि स्थान को दबाये तथा दायें पैर को फैलाकर के उस पैर के अँगूठे को मजबूती से पकड़ ले॥११२॥

चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा तु रेचयेत् ॥ ११३॥

इसके बाद ठोड़ी को छाती से लगा लेना चाहिए। तदनन्तर वायु को धीरे-धीरे अन्दर धारण करे और शक्ति के अनुसार कुम्भक करे, फिर रेचक के द्वारा वायु को बाहर निकाल देना चाहिए॥११३॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत् ॥ ११४॥

इस क्रिया को निरन्तर अभ्यास पूर्वक बाँये अंग से करने के उपरान्त दाँये अंग से करे अर्थात् जो पैर फैलाया हुआ था, उसे योनि के स्थान पर लगाये और जो योनि के स्थान पर था, उसे फैलाकर अँगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए॥११४॥

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत् ।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ ११५॥

वायुना गतिमावृत्य निभृतं कर्णमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥ ११६॥

यह ही महाबन्ध कहलाता है। इस बन्ध का दोनों ही प्रकार से अभ्यास किया जाता है। महाबन्ध की क्रिया में सतत संलग्न रहने वाले योगी को एकाग्र होकर कण्ठ की मुद्रा द्वारा वायु की गति को आवृत करके दोनों नासिका-रन्ध्रों को संकुचित करने से तत्परतापूर्वक वायु भर जाती है॥११५-११६॥

अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।
अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् ॥ ११७॥

भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया ॥ ११८॥

बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥ ११९॥
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ॥ १२०॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते ।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥ १२१॥

गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।
करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥ १२२॥

सिद्ध योगीजन इस (ऊपर वर्णित) महावेध का निरन्तर अभ्यास करते रहते हैं। जिह्वा को लौटाकर, अन्तः कपाल-कुहर में लगाकर दोनों भृकुटियों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करना खेचरी मुद्रा है। कण्ठ को संकुचित करके (ठोड़ी को) दृढ़तापूर्वक वक्ष पर स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध कहलाता है। जो मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान होता है। जिस बन्ध से प्राण सुषुम्ना में उठ जाता है। उसे योगी लोग उडियान बन्ध कहते हैं। एड़ी से योनि स्थान को ठीक प्रकार से दबाकर अन्दर की तरफ खींचे, इस तरह अपान को ऊर्ध्व की ओर उठाये, यही योनि बन्ध कहलाता है। इस क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता की प्राप्ति होती है तथा यह संशयरहित योग सिद्ध कराने वाला है। अब विपरीतकरणी मुद्रा के सन्दर्भ में बतलाते हैं। इसे समस्त व्याधियों का विनाश करने वाली कहा गया है॥११७-१२२॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥ १२३॥

इस विपरीतकरणी मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि बढ़ जाती है। इस कारण साधक अधिक आहार (भोजन) को पचा सकने में समर्थ हो जाता है॥१२३॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ।
अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ १२४॥

यदि साधक कम भोजन ग्रहण करेगा, तो उसकी जठराग्नि उसके शरीर को ही नष्ट करने लगेगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन क्षणभर के लिए सिर नीचे की ओर करके तथा पैरों को ऊपर की ओर करे॥१२४॥

क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने ।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ॥ १२५॥

इसके पश्चात् प्रत्येक दिन एक-एक क्षण भर निरन्तर अभ्यास बढ़ाता रहे, तो छः मास में ही साधक के शरीर की झुर्रियाँ तथा बालों की सफेदी समाप्त हो जायेगी॥१२५॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।
वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १२६॥

लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ १२७॥

जो प्रतिदिन एक प्रहर (तीन घंटे) तक (इस विपरीतकरणी मुद्रा का) अभ्यास करता है, वह योगी काल को अपने वश में कर लेता है। जो योगी वज्रोली मुद्रा का नित्य अभ्यास करता है, वह जल्दी ही

सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है। जो उस मुद्रा का अभ्यास कर लेता है, तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही जानना चाहिए। वह भूत, भविष्यत् का ज्ञाता हो जाता है तथा वह अवश्य ही आकाश मार्ग से गमन करने में समर्थ हो जाता है॥१२६-१२७॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥ १२८॥

जो योगी 'अमरी'* का प्रतिदिन पान करता है एवं घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उसका नस्य करता है तथा वज्रोली का अभ्यास करता है, तो उसे अमरोली का साधक कहा जाता है। ॥१२८॥

* अमरी शब्द के अर्थ में विद्वान जनों में मतभेद है परन्तु सम्पूर्ण उपनिषद के विज्ञान और उपदेश पर विचार करते हुए, खेचरी मुद्रा (जिह्वा को लौटाकर, अन्तः कपाल-कुहर में लगाकर दोनों भृकुटियों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करना खेचरी मुद्रा है।) में ध्याननिष्ठ होकर मुख में उत्पन्न हुए रस का आस्वादन ही उपयुक्त जान पड़ता है।

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रिया ॥ १२९॥

इसके पश्चात् वह राजयोग सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। राजयोग के सिद्ध हो जाने से योगी को हठयोग की शरीर सम्बन्धी क्रियाओं की जरूरत नहीं पड़ती॥१२९॥

तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥ १३०॥

उसे निश्चय ही वैराग्य एवं विवेक की प्राप्ति सहजतया हो जाती है। भगवान् विष्णु ही महायोगी, महाभूत स्वरूप तथा महान् तपस्वी हैं॥१३०॥

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते ॥ १३१॥

तत्त्वमार्ग पर गमन करने वाले को वे पुरुषोत्तम दीपक की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। (यह जीवन विभिन्न योनियों में घूमता हुआ मानव योनि में आता है,) तब वह जिस स्तन को पीता है, दूसरी अवस्था में वैसे ही स्तन को दबाकर आनन्दानुभूति करता है॥१३१॥

यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥ १३२॥

(जीव ने) जिस योनि में जन्म लिया था, वैसी ही योनि में पुनः-पुनः रमण किया करता है। एक जन्म में जो माँ होती है, वही दूसरे जन्म में पत्नी भी हो जाती है तथा जो पत्नी होती है, वह माता बन जाती है॥१३२॥

यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसारचक्रं कूपचक्रेण घटा इव ॥ १३३॥

भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान्समश्नुते ।
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः सन्ध्यास्त्रयः स्वराः ॥ १३४॥

त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम् ॥ १३५॥

जो पिता होता है, वह पुत्र बन जाता है तथा जो पुत्र होता है, वह पिता के रूप में जन्म ले लेता है। इस तरह से यह संसार चक्र, कूप-चक्र (पानी खींचने की रहट) के सदृश है, जिसमें प्राणी नाना प्रकार की योनियों में सतत गमनागमन करता रहता है। तीन ही लोक हैं, तीन ही वेद कहे गये हैं, तीन संध्यायें हैं, तीन स्वर हैं, तीन अग्नि हैं, तीन गुण (सत्, रज, तम) बतलाये गये हैं तथा तीन अक्षरों में सभी कुछ विद्यमान है। अतः इन तीन अक्षरों तथा अक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए॥१३३-१३५॥

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ॥ १३६॥

तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ।
हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम् ॥ १३७॥

ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः ।

अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते ॥ १३८॥

मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं निष्कलं पापनाशनम् ॥ १३९॥

सभी कुछ उसी (तीन अक्षरों) में पिरोया हुआ है, वही सत्यस्वरूप है, वही शाश्वत परमपद है। जैसे पुष्प में सुगन्ध होती है, दुग्ध में घृत सन्निहित है, तिलों में तेल उत्पन्न होता है और प्रस्तर खण्ड में स्वर्ण निहित है, वैसे ही वह भी सभी में व्याप्त है। हृदय-संस्थान में जो कमल-पुष्प स्थित है, उसका मुख नीचे की ओर है। एवं उसकी नाल (दण्डी) ऊर्ध्व की ओर है। नीचे बिन्दु है, उसी के मध्य में मन प्रतिष्ठित है।'अ' कार में रेचित किया हुआ हृदय कमल का 'उ' कार से भेदन किया जाता है एवं 'म' कार में नाद (ध्वनि) को प्राप्त होता है। अर्द्ध मात्रा निश्चल, शुद्ध स्फटिक के समान निष्कल एवं पापनाशक है॥१३६-१३९॥

लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम् ।
कूर्मः स्वपाणिपादादिशिरश्चात्मनि धारयेत् ॥ १४०॥

एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः ।
निषिद्धं तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ्निश्वसंस्तथा ॥ १४१॥

इस प्रकार योग से संयुक्त हुआ योगी पुरुष मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। जिस तरह से कच्छप अपने हाथ, पैर एवं सिर को अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर लेता है, उसी तरह से सभी द्वारों से भर करके

दबाया हुआ वायु,नौ द्वारों के बन्द होने से ऊर्ध्व की ओर गमन कर जाता है॥१४०-१४१॥

घटमध्ये यथा दीपो निवातं कुम्भकं विदुः ।
निषिद्धैर्नवभिर्द्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे ॥ १४२॥

निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवयेत्युपनिषत् ॥

जिस तरह वायुरहित घड़े के मध्य में (स्थिर लौ वाला) दीपक रखा होता है, उसी तरह से कुम्भक को जानना चाहिए। इस योग-साधना में नौ द्वारों के अवरुद्ध कि ये जाने पर सुनसान एवं निरुपद्रव स्थान में आत्मतत्त्व ही मात्र शेष रहता है। ऐसा ही यह योगतत्त्व उपनिषद् है॥१४२॥

॥हरिः ॐ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९॥

परमात्मा हम दोनों गुरु शिष्यों का साथ साथ पालन करे। हमारी रक्षा करें। हम साथ साथ अपने विद्याबल का वर्धन करें। हमारा अध्यान किया हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

॥ इति इति योगतत्त्वोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ योगतत्त्व उपनिषद समात ॥

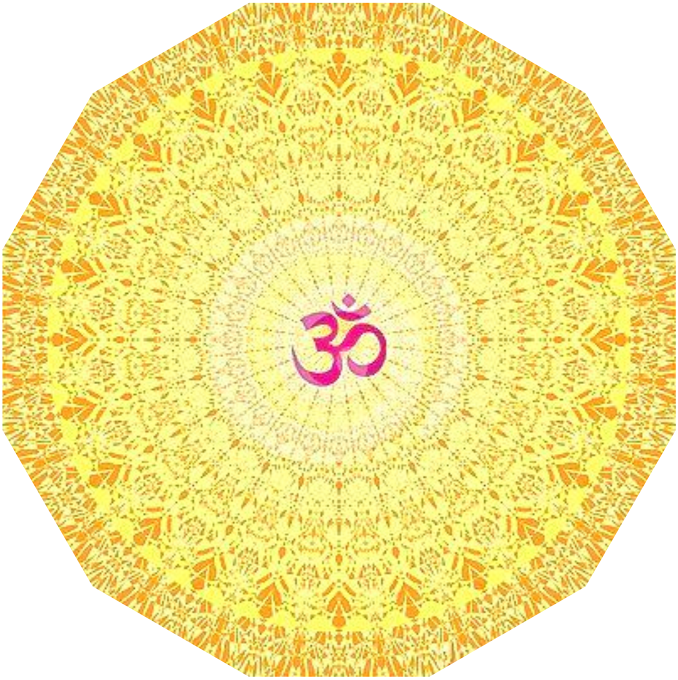

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥